अनन्तर/जनसत्ता/१० सितंबर, २००६/संशोधित

कविता और कथा के बीच बंकिम

ओम थानवी

राष्ट्रगीत है इसलिए 'वंदे मातरम्' राष्ट्र के हर नागरिक को अनिवार्यत: गाना चाहिए, इस बात से कोई विवेकशील शायद ही सहमत होगा। आजाद मुल्क में जायज नाफरमानी का इतना हक तो नागरिकों को हासिल होता है।

वक्त था जब हमारे सिनेमाघरों में फिल्म खत्म होते ही परदे पर तिरंगा लहराता था। हॉल में राष्ट्रगान गूंज उठता था। 'जन-गण-मन' में कोई देवी-देवता नहीं थे, इसलिए प्रतिरोध या हिंदू-मुसलिम विवाद का सवाल नहीं था। फिर भी बहुत-से दर्शक फिल्म खत्म होते-न-होते उठ कर चल देते थे। यह जानते हुए भी कि दरवाजे गान के सातवें जय-घोष के पूरे होने तक खोले नहीं जाएंगे। बहरहाल, जन-संपर्क के उस असरदार ठिकाने- सिनेमाघर- से राष्ट्रगान आखिरकार उठा लिया गया।

तिरंगे और राष्ट्रगान के उस दुहरे अनादर को समझ लेने वाले हुक्मरानों ने इसके बावजूद अब अगर 'वंदे मातरम्' को जन-मानस पर थोपने की कोशिश की है, तो इसकी वजह बहुत साफ है जिसे ज्यादा दुहराने की जरूरत नहीं है। राष्ट्रगीत में हिंदू प्रतीक हैं, जिनसे मुसलमानों को चिढ़ाया जा सकता है। इससे हिंदुओं को रिझाया जा सकता है। भले सबको नहीं। पर हिंदू समाज का मत-भण्डार भाजपा- बहुसंख्यक समाज जिसकी बुनियाद है- और कांग्रेस को समान रूप से ललचाता है। दोनों में उसे लेकर जीने-मरने की होड़ है। इस बात को देश के बुद्धिजीवी पहचानते हैं और इस पर काफी टीका हुई है। खासकर इस मायने में कि राष्ट्रगीत गाना-न गाना राष्ट्रभक्ति का पैमाना नहीं हो सकता।

लेकिन क्या 'वंदे मातरम्' सचमुच एक बुरा गीत है? 'आनंदमठ' कैसा उपन्यास है? दूसरे, उग्र राष्ट्रवाद का राष्ट्रीय भावना से क्या साम्य है? अचानक उठे विवादों की गर्माहट कभी-कभी पसर कर काम की बहस में तब्दील हो जाया करती है। अच्छा होता अगर इस मौके पर विद्वान लोग साहित्यकार के नाते बंकिमचंद्र के काम और राष्ट्रवाद की अवधारणा पर अलग से कुछ विचार करते।

मैं साहित्य का व्यक्ति नहीं हूं, न मैंने राजनीति का शास्त्र पढ़ा है। लेकिन सारी बहस में यह बात मुझे तल्खी के साथ महसूस हुई कि या तो लोग बंकिमचंद्र के पक्ष में खड़े हैं या उनके चरित्र तक की बखिया उधेड़ रहे हैं। साहित्य कहीं चर्चा के केंद्र में नहीं है। राष्ट्रगीत के थोपे जाने का विरोध करते-करते वे गीत में ही खोट ढूंढ़ने लगते हैं। मानो भूल रहे हों कि 'वंदे मातरम्' कविता पहले है, राष्ट्रगीत बाद में। लगता है कविता राष्ट्रवाद की बहस की भेंट चढ़ गई हो। जिन्होंने कविता को अच्छा या बुरा बताया है, उनके पीछे भी सामाजिक या राजनीतिक पहलू दिखाई देते हैं। ऐसी बहस के बाद आने वाली पीढ़ी 'वंदे मातरम्' को कभी कविता की तरह पढ़ पाएगी, यह संदेह मेरे मन में रह-रह कर उठता है।

'वंदे मातरम्' मुझे सुंदर कविता अनुभव होती है। 'आनंदमठ' एक हलका उपन्यास। आप मान सकते हैं कि यह बात मैं किसी बौद्धिक, सामाजिक या राजनीतिक आग्रह से नहीं कह रहा हूं। साहित्य कला का अंग है। बाकी दुनियावी चीजों से वह बहुत ऊंचा होता है। उसे देखने का नजरिया भी उसी का होता है, शायद उसी में से निकलता है। इसलिए 'वंदे मातरम्' के धार्मिक प्रतीकों के नाके के जरा आगे निकलें तो उसके शब्द हमारे सामने छंद, रंग और गंध की एक बड़ी और सौम्य दुनिया खोलते हैं। 'मलयजशीतलाम्' कोरी चंदन की बयार नहीं है, न 'शुभ्र ज्योत्स्ना पुलकित यामिनीम्' महज चांदनी रात के रोमांच का दृश्य बयान करती है।

गीत में हर उपमा एक निराला छंद है। वह हमें शब्द और उसके अर्थ की दुनिया के पार ले जाता है। या कहें ले जा सकता है- अगर हम जाना चाहें। जैसा कि प्रो. रामचंद्र गांधी- जो

महात्मा गांधी के पौत्र के रूप में ज्यादा जाने जाते हैं, जबकि आला दर्जे के कला–मर्मज्ञ और रसिक हैं– ने अंतरंग बातचीत में कहा कि बाकी गीत का सौंदर्य अपना है, पर उसके शुरू के दो शब्द– वंदे मातरम्– ही अपने आप में संपूर्ण काव्य हैं। जैसे 'सत्यमेव जयते' है। उनका आशय लय से था, जो कविता की धड़कन होती है। मैं उनकी बात समझ सकता हूं। उन्होंने तैय्यब मेहता की महज एक चित्रकृति (शांतिनिकेतन त्रिपट) पर पूरी किताब लिखी है, 'स्वराज'।

'वंदे मातरम्' में संस्कृत और बांग्ला का मिला–जुला प्रयोग अपने में एक खूबी है। भारतीय भाषाओं के जानकार उसे पकड़ सकते हैं। अंग्रेजी में श्रीअरविंद के कुशल अनुवाद के बावजूद शब्द–समूहों की खनक उसमें नहीं आती। 'वंदे मातरम्' में काव्य के साथ अनूठी सांगीतिकता है। उसे कई रूपों में संगीतबद्ध किया जा सकता है। रवींद्रनाथ ठाकुर से लेकर एआर रहमान तक इसके अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। रवींद्रनाथ ने गीत का सिर्फ पहला अंतरा संगीतबद्ध किया था। वह राग देस में था। उसी के साथ गीत का गान शुरू हुआ। इस स्वरलिपि को बंकिम बाबू ने 'आनंदमठ' के तीसरे संस्करण में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया था। हालांकि इससे पहले उनके एक मित्र ने गीत की संगीत–रचना राग मल्हार में भी तैयार की थी।

यह सही है कि 'वंदे मातरम्' में दशप्रहरणधारिणी, कमला कमलदल विहारिणी और वाणी विद्यादायिनी शब्द भी आते हैं। लेकिन धार्मिक प्रतीक हमेशा सांप्रदायिक नहीं होते। वे सांस्कृतिक भी होते हैं। कम से कम 'वंदे मातरम्' के भीतर इन प्रतीकों के जिक्र के बावजूद किसी धर्म की नहीं, धरती की ही वंदना है। उसी पर प्रत्यय है। यों प्रत्यय अगर धर्म पर होता, तब भी मैं उसमें काव्य का लुत्फ ले सकता था। गैर–धार्मिक व्यक्ति होते हुए भी हर सुबह मैं सूर–मीरा के भजन चाव से सुन सकता हूं और 'अल्लाह मुहम्मद चार यार, हाजी ख्वाजा कुतुब फरीद' और दूसरी नातिया कव्वालियां भी। मैं इन्हें संगीत के नजरिए से सुनता हूं और इस धारणा में विश्वास रखता हूं कि संगीत की सरहदों को छू लें तो उसी में इबादत हो जाती है। इसलिए कला में धार्मिक प्रतीक मेरे देखे हमेशा गौण रूप में प्रकट होते हैं। ऐसे में किसी का ध्यान रचना से हटकर सिर्फ उन प्रतीकों की तरफ जाता हो तो दोष रचना में नहीं, उसके नजरिए में माना जाएगा। आखिर गांधीजी के राम और लालकृष्ण आडवाणी के राम में जमीन–आसमान का फर्क है; लेकिन साहित्य–संगीत या कला की दुनिया में वह फर्क सात आसमान दूर निकल आता है।

अंग्रेजी अखबारों ने इस बात को हवा दी है कि 'वंदे मातरम्' गीत बंकिमचंद्र ने अपनी पत्रिका 'बंगदर्शन' में खाली छूट रही जगह भरने के लिए रचा था। लेकिन बंकिम का उपन्यास 'आनंदमठ' पढ़ते हुए किसी को यह शक जरूर हो सकता है कि वह कहीं जगह भरने के लिए तो नहीं लिखा गया था। 'वंदे मातरम्' पढ़ें, तब बंकिम संतुलित और लयबद्ध नजर आते हैं। 'आनंदमठ' में उनके विवेक और गद्य दोनों की लय उखड़ जाती है। उन्होंने 'वंदे मातरम्' को समूचे उपन्यास में ठूंस कर उसकी स्निग्धता को खुरदरा कर दिया है। कविता को उन्होंने खुद नारे में सीमित कर दिया। उपन्यास में उनकी दृष्टि बहुत संकीर्ण होकर उभरती है। शायद यही वजह है कि 'वंदे मातरम्' संदेह के घेरे में आ खड़ा हुआ और खुद बंकिम भी। गीत अपनी स्वायत्तता में चाहे तमाम आरोपों से बरी हो, 'आनंदमठ' को उस घेरे से बाहर लाना किसी भी बंकिम–भक्त के लिए टेढ़ा काम होगा।

'आनंदमठ' साफ शब्दों में हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा करता है, मुसलमानों की खिल्ली उड़ाता है और अंग्रेजों का यशोगान करता है। बार–बार उसमें 'जय जगदीश हरे' और 'हरे मुरारे मधुकैटभारे' नारों की तरह आते हैं। 'वंदे मातरम्' तो टेक की तरह आता है। कुछ लेखकों का कहना है कि नारे लगाने वाले संन्यासी विद्रोही (संतान–सेना) हिंदू थे और अत्याचारी शासक के खिलाफ बगावत कर रहे थे; महज संयोग है कि शासक मुसलमान था। यह बात सही नहीं है। संन्यासी मुसलमानों और अंग्रेजों दोनों से लड़ते हैं। अंत में वे अंग्रेजों के साथ हो जाते हैं।

कुछ लोग 'आनंदमठ' को ऐतिहासिक उपन्यास बताते हैं। यदुनाथ सरकार ने 'आनंदमठ' और 'देवी चौधरानी' उपन्यासों की संयुक्त भूमिका में इसे तथ्यों के साथ नकारा है। यों बंकिमचंद्र ने भी कभी उपन्यास को ऐतिहासिक नहीं बताया। उन्होंने 'बंगदर्शन' में (और उपन्यास के पहले

संस्करण में भी) जहां-जहां 'अंग्रेज' लिखा था, उसे अगले संस्करण में कई जगह बदल कर 'नैड़े' (मुसलमानों के लिए ओछा शब्द) कर दिया। शायद बंकिम बाबू ने पहले अंग्रेजों के खिलाफ लिखना चाहा हो; वारेन हेस्टिंग्स के वक्त हुए ऐतिहासिक संन्यासी विद्रोह को उन्होंने कथा का आधार बनाया था। लेकिन- संभवतः सरकारी मुलाजिम होने के नाते- वे दुविधा में पड़े और कभी मुसलमान और कभी अंग्रेजों से संतान-सेना को लड़ाते हुए उपन्यास के समापन में सीधे-सीधे अंग्रेजों की तरफ हो गए। अंग्रेज-राज्य की 'अनिवार्यता' को उन्होंने भविष्य की हिंदू-राज्य की कल्पना से जोड़ दिया। उपन्यास पढ़कर कोई भी जान सकता है उसमें मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव है, अंग्रेजों के लिए प्रशंसा का। उपन्यास के कुछ अंश देखें:

''मुसलमान राजा क्या हमारी रक्षा करते हैं? धर्म गया, जाति गई, मान गया, कुल गया, अब तो प्राणों पर बाजी आ गई है। इन नशेबाज दाढ़ीवालों को बिना भगाए क्या हिंदू हिंदू बच रहेंगे?''

''हम राज्य नहीं चाहते। मुसलमान ईश्वर विरोधी हैं, इसलिए उन्हें सवंश खत्म करना चाहते हैं।''

''संतान-व्रतधारी गांव-गांव में जासूस भेजने लगे। वे जासूस गांवों में जा कर जहां भी हिंदू देखते, उनसे कहते- 'भाई, विष्णु की पूजा करोगे?' इस तरह बीस-पच्चीस आदमियों को इकट्ठा करने के बाद वे मुसलमानों के गांव में जा कर उनके घरों में आग लगा देते। मुसलमान अपनी जान बचाने के लिए भाग खड़े होते। संतान-व्रतधारी उनका सब कुछ लूट कर नए विष्णुभक्तों में बांट देते। लूट का हिस्सा पाकर गांव के लोग खुश होते तो उन्हें विष्णु मंदिर में ला कर विष्णु मूर्ति के चरण छुला कर उनकी संतान बनाया जाता। लोगों ने देखा कि संतान बनने में बड़ा फायदा है। ... जहां भी मुसलमानों का गांव मिल जाता, वे जला कर राख बना देते।''

''किसी ने चिल्ला कर कहा, मार-मार, मुसल्लों को मार।... किसी ने कहा, भाई वह दिन कब आएगा जब हम मस्जिद तोड़ कर राधामाधव का मंदिर बनवाएंगे?''

''कोई गांव की तरफ तो कोई नगर की तरफ दौड़ पड़ा और पथिक या गृहस्थ को पकड़ कर कहने लगा, 'बोलो वंदे मातरम्, नहीं तो मार डालूंगा।'... मुसलमान देखते ही ग्रामीण मारने दौड़ते। कुछ लोग उसी रात इकट्ठा हो कर मुसलमानों के टोले में जा कर उनके घरों में आग लगाने और उनका सब कुछ लूटने लगे।''

जाहिर है, उपन्यास में सिर्फ शोषक राजा और शोषित प्रजा का झगड़ा नहीं है। हिंदू धर्म-जाति की परवाह है, मुसलमान के प्रति हिकारत है। और अंग्रेजों की भरपूर जय-जयकार। लड़ाई में अंग्रेज सेनापति को पकड़ कर भवानन्द कहते हैं: ''कप्तान साहब! हम तुम्हें मारेंगे नहीं। अंग्रेज हमारे शत्रु नहीं हैं। तुम क्यों मुसलमान की सहायता करने आए? हम तुम्हारे प्राण बख्शते हैं। लेकिन अभी तुम हमारे बंदी रहोगे। अंग्रेजों की जय हो, हम तुम्हारे शुभचिंतक हैं।''

उपन्यास के अंत में सत्यानंद मुसलिम-राज्य के ध्वंस के बावजूद हिंदू-राज्य स्थापित न होने पर ''तीव्र मर्म-पीड़ा से कातर होकर'' पूछते हैं: ''प्रभो! यदि हिंदू-राज्य स्थापित न होगा तो कौन राज्य होगा? क्या फिर मुसलिम-राज्य होगा?'' उन्हें महात्मा-महापुरुष का यह ज्ञान मिलता है:

''नहीं अब अंग्रेज-राज्य होगा... अंग्रेजों के बिना राजा हुए सनातन धर्म का पुनरुद्धार नहीं हो सकेगा। अंग्रेज बहिर्विषयक ज्ञान के अच्छे ज्ञाता और लोकशिक्षा में बड़े निपुण हैं। इसलिए अंग्रेज को राजा बनाएंगे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण इस देश के लोग बहिस्तत्त्व में सुशिक्षित हो कर अंतस्तत्त्व को समझने में समर्थ होंगे।... अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो, इसीलिए संतान-विद्रोह हुआ है।''

हिंदी में 'आनंदमठ' के कई अनुवाद उपलब्ध हैं। पर ये उद्धरण मूल बांग्ला से मिलान कर दिए गए हैं। हालांकि भाषा की रंगत अनुवाद में नहीं आ सकती। मूल उपन्यास की भाषा में अच्छा प्रवाह है। लेकिन कथ्य के निरूपण में बड़ी एकरसता और उलझाव है। न परिस्थितियां ठीक से उभरती हैं, न युद्ध का वातावरण बनता है। कमजोर पात्रों के अनवरत संवादों और नारों के बीच कथ्य को उंड़ेलने की मंशा ज्यादा उजागर होती है। बांग्ला विद्वान ललितचंद्र मित्र ने सौ साल पहले 'साहित्य' पत्रिका में लिखा था: 'आनंदमठ' देशभक्ति की रचना के रूप में उत्तम है, लेकिन उसका कला-पक्ष क्षीण है।

पत्रिकाओं में धारावाहिक छपने वाले उपन्यासों का अक्सर यह हश्र होता है। वरना संकीर्ण नजरिए के बावजूद कोई कृति बेहतर हो सकती है। साहित्य में ऐसे ढेर उदाहरण हैं। एजरा पाउंड फासीवाद के समर्थक थे और बड़े कवि माने जाते हैं। नीत्शे के बारे में विजयदेवनारायण साही ने दो टूक शब्दों में कहा था कि 'जरदुस्त्र उवाच' सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से जला देने के लायक है, पर कविता की दृष्टि से महान कृतियों में एक है। मैंने 'वंदे मातरम्' की तरह 'आनंदमठ' को खुले दिमाग से पढ़ा है। पर वह वैचारिक दृष्टि से ही नहीं, रचना के स्तर पर भी कमजोर लगा। यह सही है कि उपन्यास की विधा तब हमारे यहां बहुत विकसित नहीं थी। लेकिन महान कृतियों के लक्षण किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाते हैं। बंकिम बाबू के इस सबसे प्रसिद्ध उपन्यास में वे नहीं प्रकट होते।

लेकिन 'वंदे मातरम्' उम्दा गीत है। वह अलग लिखा गया था। उसे अलग ही पढ़ा जाना चाहिए। उसे राष्ट्रगीत के नाते थोपने का कोई मतलब नहीं है। कायदा बना कर पढ़ने पर कविता हाथ से छूट जाती है, सिर्फ नारा पास में रह जाता है।

अब राष्ट्रगीत के बहाने कुछ राष्ट्रवाद की बात। पत्रकारिता की पक्षधरता के संदर्भ में इसका जिक्र मैंने पहले भी किया है। पहली बात तो यह कि 'वंदे मातरम्' को राष्ट्रगीत घोषित करना उचित नहीं था। उसमें सांप्रदायिकता नहीं थी, लेकिन गीत लिखने के छह साल बाद खुद बंकिमचंद्र ने उसे विवादास्पद 'आनंदमठ' का हिस्सा बना दिया था। यह सही है कि आजादी के आंदोलन में गीत सारे क्रांतिकारियों की प्रेरणा बना। लेकिन बाद में दंगों में उसे मुसलमानों के खिलाफ हिंदू-हुंकार की तरह भी इस्तेमाल किया गया। मुसलिम लीग ने ही इसकी मुखालिफत नहीं की, गांधी जी भी इसके इस्तेमाल में मुसलिम-तिरस्कार की आशंका देखने लगे। विवाद के चलते 'वंदे मातरम्' अंतत: राष्ट्रगान नहीं बन सका। इसी विवाद की वजह से टुकड़े में वह राष्ट्रगीत बना (क्या कोई जीवित कवि इसकी सहमति देगा!)। लेकिन राष्ट्रभक्ति की दलील पर उसे जैसे राष्ट्रगान से ऊपर ले जाने की कोशिश होती है।

दिखावे की राष्ट्रभक्ति राष्ट्रवादी अवधारणा का नतीजा है। यह हमारे देश में पहले नहीं थी। राष्ट्रवाद ओढ़ा हुआ पश्चिम का विचार है। उन्नीसवीं सदी में यह यूरोप में पनपा। सब जानते हैं यूरोप इसी राष्ट्रवाद के रास्ते चल कर बरबाद हुआ। उसने दो विश्वयुद्ध लड़े। राष्ट्रवाद की इसी अवधारणा पर पाकिस्तान बना। यूरोप देर-सबेर संभल गया। अब तो वहां मुद्रा भी एक चलती है, एक पारपत्र चलता है। जातीय प्रतीक जुदा हैं। लेकिन हमारे यहां राष्ट्रवादी रिवायतें दिनोंदिन राष्ट्रीयता का पर्याय बनती चली जा रही हैं। दोनों चीजों में बहुत फर्क है। नागरिक में अपने राष्ट्र के प्रति निश्चय ही आस्था होनी चाहिए। लेकिन आस्था को राष्ट्र-चिह्नों में नहीं तौला जा सकता। हम भूल जाते हैं कि उग्र राष्ट्रवाद एक जगह पहुंच कर फासीवाद में बदल जाता है। यह अकारण नहीं है कि हमारे यहां संघ परिवार की इस विचार में वैसी ही आस्था है जैसी हिटलर या मुसोलिनी की थी। इसी विचारधारा के चलते राष्ट्रगीत के गाने न गाने का विवाद फिर उठा है। ऐसे और विवाद उठ सकते हैं। लेकिन भारत जैसे बहुलतावादी राष्ट्र को क्या सचमुच ऐसे राष्ट्रीय प्रतीकों की जरूरत है? राष्ट्र के प्रतीक कभी राष्ट्र की जनता से बड़े नहीं हो सकते। प्रतीक जनता ही गढ़ती है। इसलिए भारत का कोई एक धार्मिक प्रतीक नहीं हो सकता। न गैर-धार्मिक। इस मामले में राष्ट्रकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के विचारों का अध्ययन हमारे लिए बहुत उपयोगी हो सकता है। उन्होंने राष्ट्रवाद को एक रोग की संज्ञा दी थी।

एक और पेचीदगी है। एक देश में राष्ट्रगीत और राष्ट्रगान दोनों का यों भी कोई मतलब नहीं है। ऐसा सिर्फ हमारे देश में है। लेकिन दिलचस्प गुत्थी है कि राष्ट्रवादी ठप्पों की कतार में दूसरी विधाओं और कला-रूपों को छोड़ दिया गया है। सोचकर हैरानी होती है अगर राष्ट्र-कथा, राष्ट्र-नाटक, राष्ट्र-चित्र, राष्ट्र-फिल्म, राष्ट्र-नृत्य, राष्ट्र-क्रीड़ा आदि का सिलसिला शुरू हो गया तो वह कहां तक जाएगा! राष्ट्र-चिह्नों की तर्ज पर अब प्रादेशिक चिह्नों तक का निर्धारण होने लगा है। राष्ट्रीय पक्षी भले मोर हो, प्रदेशों के राज्य-पक्षी दूसरे हैं। क्या राज्य राष्ट्र का अंग नहीं हैं? असल में राष्ट्र का एक प्रतीक- झण्डा- ही काफी होना चाहिए। हालांकि हमारा तिरंगा अपने रंगों में बहुत

स्थूल अर्थ बयान करता है। मूलत: वह कांग्रेस की राजनीति का संदेशवाहक था, उसी पर अशोक–चक्र मढ़ दिया गया। पर इस मामले में अब कुछ नहीं किया जा सकता। लेकिन केंद्र और राज्यों में पहचान के राजकीय चिह्न गढ़ने का सिलसिला जरूर रोका जा सकता है। गनीमत है, तिरंगे की जगह प्रदेशों ने अब तक अपने झण्डे ईजाद नहीं किए हैं!

अभी हिंदी दिवस आने वाला है। आप गौर कर सकते हैं, नारों के बीच राष्ट्रभाषा की बात होगी। लेकिन बोलियों की नहीं, जिन्हें हम जाने–अनजाने खोते चले जा रहे हैं। हिंदी सरस और सौम्य भाषा है। सबसे ज्यादा बोली जाती है। वह सहज ही संपर्क भाषा बन सकती है। लेकिन वह राजभाषा होकर भी राज की भाषा नहीं बन सकी है। सरकारी प्रयास लोक–मानस की जगह नहीं ले सकते, न उसे बांध सकते हैं। 'वंदे मातरम्' के विवाद का सबसे बड़ा सबक शायद यह है कि आजाद देश में चीजों को बांधने की बजाय अब खुला छोड़ देना चाहिए। इससे हमारी एकता ही नहीं, कई चीजें बचेंगी जो राष्ट्र की असल पहचान हैं।

पश्चिम का भूला पूरब में जितना जल्द लौट आए, उतना अच्छा!